Gyanvividha, Vol.-3; Issue-3 (July-September) 2026 : PP-183-192

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान विषयों की अंतर्राष्ट्रीय सहकर्मी समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध-पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-6.125
Vol.-3; Issue-3 (July-Sept.) 2026
Page No.- 183-192
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com
**Author's :**
डॉ. गौतम कुमार

Corresponding Author :
डॉ. गौतम कुमार

# कश्मीर, हैदराबाद और साम्यवादी आंदोलन

**सारांश** : 1947 में भारत की स्वतंत्रता के बाद देश के सामने केवल शासन चलाने की चुनौती नहीं थी, बल्कि अलग–अलग रियासतों और राजनीतिक समूहों को साथ लेकर एक मजबूत राष्ट्र बनाने की भी बड़ी जिम्मेदारी थी। विभाजन की हिंसा, साम्प्रदायिक तनाव और राजनीतिक अस्थिरता के बीच कई रियासतों का भारत में विलय बाकी था। कश्मीर और हैदराबाद इस दौर की दो महत्वपूर्ण घटनाएँ थीं। कश्मीर में महाराजा हरि सिंह की स्थिति, शेख अब्दुल्ला और नेशनल कॉन्फ्रेंस की राजनीति, पाकिस्तान से आए कबायली आक्रमण तथा भारत के साथ विलय ने पूरे मामले को जटिल बना दिया। इसके बाद भारत और पाकिस्तान के बीच संघर्ष हुआ और कश्मीर का प्रश्न संयुक्त राष्ट्र तक पहुँचा। हैदराबाद में निजाम भारत में शामिल होने के बजाय स्वतंत्र रहने की कोशिश कर रहा था। वहाँ रजाकारों की गतिविधियों और तेलंगाना के किसान आंदोलन ने हालात को और गंभीर बना दिया। सितंबर 1948 में भारतीय सेना की कार्रवाई के बाद हैदराबाद भारतीय संघ का हिस्सा बन गया। इसी समय साम्यवादी आंदोलन भी नवगठित भारतीय राज्य के सामने एक महत्वपूर्ण राजनीतिक चुनौती बनकर सामने आया। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने कुछ समय तक स्वतंत्रता को अधूरा मानते हुए सरकार के विरुद्ध संघर्ष का रास्ता अपनाया और तेलंगाना सहित कई स्थानों पर किसान आंदोलनों को समर्थन दिया।

1947 से 1952 का समय भारतीय राजनीति के लिए बदलाव का दौर था। कश्मीर और हैदराबाद के प्रश्नों ने जहाँ राष्ट्रीय एकता और क्षेत्रीय राजनीति की कठिनाइयों को सामने रखा, वहीं साम्यवादी आंदोलन ने सामाजिक और आर्थिक असमानता के सवालों को राजनीतिक संघर्ष से जोड़ा। इन घटनाओं को साथ रखकर देखने पर यह समझ आता है कि स्वतंत्रता के बाद भारतीय सरकार को अलग–अलग प्रकार की चुनौतियों से एक साथ निपटना पड़ा। कश्मीर में सैन्य कार्रवाई के साथ कूटनीतिक प्रयास किए गए, हैदराबाद में बातचीत के बाद सैन्य हस्तक्षेप का सहारा लिया गया और साम्यवादी आंदोलन के मामले में दमन के साथ–साथ राजनीतिक स्तर पर भी बदलाव आया। 1951 तक भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने अपनी पहले की उग्र रणनीति में परिवर्तन किया और लोकतांत्रिक तथा चुनावी राजनीति में भाग लेने का रास्ता अपनाया। इस प्रकार कश्मीर, हैदराबाद और साम्यवादी आंदोलन की घटनाएँ स्वतंत्रता के बाद भारत में राष्ट्रीय एकता, लोकतांत्रिक व्यवस्था और राजनीतिक स्थिरता के निर्माण की प्रक्रिया को समझने के लिए महत्वपूर्ण आधार प्रदान करती हैं।
**मुख्य शब्द** : कश्मीर, हैदराबाद, साम्यवाद, राष्ट्र–निर्माण, रियासतें, भारतीय संघ।

**प्रस्तावना** : 1947 में भारत आजाद हुआ, लेकिन आजादी के साथ देश को कई बड़ी परेशानियों का सामना करना पड़ा। आजादी के लंबे संघर्ष के बाद 15 अगस्त 1947 को भारत स्वतंत्र हुआ, लेकिन इस स्वतंत्रता के साथ देश का विभाजन भी हुआ। भारत और पाकिस्तान के बनने से लाखों लोगों को

अपना घर और जमीन छोड़कर दूसरी जगह जाना पड़ा। पंजाब और बंगाल सहित कई क्षेत्रों में साम्प्रदायिक हिंसा हुई और बड़ी संख्या में लोगों की जान गई। आजादी की खुशी के साथ विभाजन का दुख भी लोगों के सामने था। नए भारत के सामने शरणार्थियों को बसाने, कानून–व्यवस्था बनाए रखने और लोगों में विश्वास पैदा करने जैसी कठिन जिम्मेदारियाँ थीं। इसके साथ ही देश की राजनीतिक व्यवस्था को नए सिरे से मजबूत करना भी जरूरी था। नए भारत के सामने केवल शासन चलाने की जिम्मेदारी नहीं थी, बल्कि विभाजन से पैदा हुई परिस्थितियों को संभालना और देश में शांति बनाए रखना भी बहुत जरूरी था। स्वतंत्रता के समय भारत केवल ब्रिटिश शासन वाले क्षेत्रों तक सीमित नहीं था, बल्कि देश में अनेक देशी रियासतें भी थीं। इन रियासतों पर अलग–अलग राजा और नवाब शासन करते थे। अंग्रेजों के जाने के बाद इन रियासतों के सामने यह सवाल था कि वे भारत के साथ रहेंगी, पाकिस्तान के साथ जाएँगी या अपने लिए कोई अलग रास्ता अपनाएँगी। यदि ये रियासतें अलग–अलग रास्ता अपनातीं, तो भारत की राजनीतिक एकता और प्रशासनिक व्यवस्था कमजोर पड़ सकती थी। इसलिए आजादी के बाद भारत के सामने देश को एक मजबूत और एकजुट राजनीतिक व्यवस्था में जोड़ने की बड़ी चुनौती थी।

स्वतंत्र भारत के सामने इसलिए कई राजनीतिक और सामाजिक चुनौतियाँ एक साथ मौजूद थीं। विभाजन के बाद की हिंसा, शरणार्थियों का पुनर्वास, सीमाओं की सुरक्षा और पाकिस्तान के साथ पैदा हुए तनाव से निपटना तत्काल जरूरी था। देश के भीतर अलग–अलग भाषा, क्षेत्र, धर्म और सामाजिक समूहों को एक साथ लेकर चलना तथा लोकतांत्रिक व्यवस्था में लोगों का विश्वास बनाए रखना भी बड़ी जिम्मेदारी थी। सरकार के सामने यह सवाल था कि देश की एकता को बनाए रखते हुए अलग–अलग क्षेत्रों और समुदायों की भावनाओं का सम्मान कैसे किया जाए। इसी समय कश्मीर, हैदराबाद और जूनागढ़ जैसी रियासतों का प्रश्न भी सामने आया। रियासतों का भारतीय संघ में विलय राष्ट्रीय एकता के लिए बहुत जरूरी माना गया। यदि कोई रियासत भारत में शामिल नहीं होती और अपनी अलग राजनीतिक स्थिति बनाए रखती, तो देश कई छोटे–छोटे राजनीतिक हिस्सों में बँट सकता था। इससे प्रशासन, सुरक्षा और आर्थिक विकास पर भी असर पड़ता। इसलिए भारत की राजनीतिक एकता और भविष्य की स्थिरता के लिए रियासतों का एकीकरण बहुत जरूरी था। यह केवल जमीन को एक साथ जोड़ने का काम नहीं था, बल्कि अलग–अलग शासकों और क्षेत्रों को एक साझा राष्ट्रीय व्यवस्था से जोड़ने की प्रक्रिया भी थी। सरदार वल्लभभाई पटेल और वी. पी. मेनन ने रियासतों को भारत में मिलाने के लिए लगातार बातचीत की और अधिकांश रियासतों ने समझदारी से भारतीय संघ में शामिल होना स्वीकार कर लिया। फिर भी कुछ रियासतों में स्थिति आसान नहीं थी। जूनागढ़, कश्मीर और हैदराबाद के मामले अलग–अलग कारणों से गंभीर बन गए। इन घटनाओं ने यह दिखाया कि आजाद भारत के लिए केवल राजनीतिक स्वतंत्रता पर्याप्त नहीं थी, बल्कि देश की एकता और स्थिरता बनाए रखना भी उतना ही जरूरी था।

कश्मीर का मामला सबसे अधिक उलझा हुआ था। कश्मीर की आबादी में मुसलमानों की संख्या अधिक थी, लेकिन वहाँ शासन महाराजा हरि सिंह के हाथ में था। महाराजा शुरू में भारत या पाकिस्तान में से किसी एक के साथ जाने के बजाय स्वतंत्र रहने की कोशिश कर रहे थे। इसी बीच कश्मीर की राजनीति में शेख अब्दुल्ला और नेशनल कॉन्फ्रेंस की महत्वपूर्ण भूमिका सामने आई। अक्टूबर 1947 में पाकिस्तान की ओर से आए कबायली लड़ाकों के हमले के बाद स्थिति तेजी से बदल गई। महाराजा ने भारत से सैन्य सहायता मांगी और इसके बदले भारत के साथ विलय–पत्र पर हस्ताक्षर किए। भारतीय सेना के कश्मीर पहुँचने के बाद संघर्ष और बढ़ गया तथा भारत–पाकिस्तान के बीच युद्ध की स्थिति बनी। बाद में कश्मीर का प्रश्न संयुक्त राष्ट्र तक पहुँचा। इस तरह कश्मीर केवल एक रियासत के विलय का मामला नहीं रहा, बल्कि भारत की विदेश नीति और भारत–पाकिस्तान संबंधों का एक स्थायी मुद्दा बन गया। कश्मीर की स्थिति ने नए भारतीय राज्य के सामने राष्ट्रीय सुरक्षा, क्षेत्रीय एकता और अंतरराष्ट्रीय राजनीति से जुड़ी कई चुनौतियाँ एक साथ खड़ी कर दीं।

हैदराबाद में स्थिति कुछ अलग थी। यहाँ निजाम भारत में शामिल होने के बजाय स्वतंत्र रहने की इच्छा रखता था, जबकि हैदराबाद चारों तरफ से भारतीय क्षेत्र से घिरा हुआ था। राज्य के भीतर रजाकारों की गतिविधियाँ बढ़ रही थीं और तेलंगाना में किसानों का आंदोलन भी तेज हो रहा था। भारत सरकार के साथ बातचीत से कोई स्थायी समाधान नहीं निकल सका। आखिरकार सितंबर 1948 में भारतीय सेना ने हैदराबाद में कार्रवाई की और निजाम को भारत में विलय स्वीकार करना पड़ा। हैदराबाद का मामला केवल एक रियासत के भारत में शामिल होने तक सीमित नहीं था, बल्कि इसके साथ राज्य के भीतर चल रहे राजनीतिक और सामाजिक संघर्ष भी जुड़े हुए थे। इसी समय तेलंगाना का किसान आंदोलन साम्यवादी राजनीति से जुड़कर एक बड़े संघर्ष में बदल रहा था। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने स्वतंत्रता के शुरुआती वर्षों में कांग्रेस सरकार की नीतियों का विरोध किया और कुछ समय तक सशस्त्र संघर्ष को परिवर्तन का रास्ता माना। तेलंगाना के अलावा पश्चिम बंगाल में भी किसान और मजदूर आंदोलनों के माध्यम से साम्यवादी प्रभाव बढ़ाने की कोशिश हुई। इस प्रकार स्वतंत्रता के बाद साम्यवादी आंदोलन ने भी भारतीय राजनीति के सामने एक अलग प्रकार की चुनौती रखी। सामाजिक और आर्थिक असमानता, किसानों और मजदूरों की समस्याएँ तथा सत्ता और संसाधनों के बँटवारे का प्रश्न इस दौर में राजनीतिक बहस का महत्वपूर्ण हिस्सा बन गया।

1947 का वर्ष भारत के इतिहास में एक बड़े बदलाव का समय था। लंबे स्वतंत्रता संघर्ष के बाद 15 अगस्त 1947 को भारत आजाद हुआ, लेकिन इस आजादी के साथ देश का विभाजन भी हुआ। भारत और पाकिस्तान के बनने से लाखों लोगों को अपना घर और जमीन छोड़कर दूसरी जगह जाना पड़ा। पंजाब और बंगाल सहित कई क्षेत्रों में साम्प्रदायिक हिंसा हुई और बड़ी संख्या में लोगों की जान गई। नए भारत के सामने शरणार्थियों को बसाने, कानून–व्यवस्था बनाए रखने और

लोगों में विश्वास पैदा करने जैसी कठिन जिम्मेदारियाँ थीं। इसके साथ ही देश की राजनीतिक व्यवस्था को नए सिरे से मजबूत करना भी जरूरी था। आजादी के समय भारत केवल ब्रिटिश शासन वाले क्षेत्रों तक सीमित नहीं था, बल्कि देश में अनेक देशी रियासतें भी थीं। इन रियासतों पर अलग–अलग राजा और नवाब शासन करते थे। अंग्रेजों के जाने के बाद इन रियासतों के सामने भारत या पाकिस्तान में शामिल होने अथवा अपनी अलग स्थिति बनाए रखने का सवाल खड़ा हुआ। यदि ये रियासतें अलग–अलग रास्ता अपनातीं, तो भारत की राजनीतिक एकता और प्रशासनिक व्यवस्था कमजोर पड़ सकती थी। इसलिए स्वतंत्रता के बाद रियासतों का एकीकरण भारत के सामने सबसे महत्वपूर्ण कार्यों में से एक बन गया।

स्वतंत्र भारत के सामने इसलिए कई राजनीतिक और सामाजिक चुनौतियाँ एक साथ मौजूद थीं। विभाजन के बाद की हिंसा, शरणार्थियों का पुनर्वास, सीमाओं की सुरक्षा और पाकिस्तान के साथ पैदा हुए तनाव से निपटना तत्काल जरूरी था। इसी समय कश्मीर, हैदराबाद और जूनागढ़ जैसी रियासतों का प्रश्न भी सामने आया। देश के भीतर अलग–अलग भाषा, क्षेत्र, धर्म और सामाजिक समूहों को एक साथ लेकर चलना तथा लोकतांत्रिक व्यवस्था में लोगों का विश्वास बनाए रखना भी बड़ी जिम्मेदारी थी। इस स्थिति में रियासतों का भारतीय संघ में विलय राष्ट्रीय एकता के लिए बहुत जरूरी माना गया। सरदार वल्लभभाई पटेल और वी. पी. मेनन ने बातचीत, समझौते और राजनीतिक प्रयासों के माध्यम से अधिकांश रियासतों को भारत के साथ जोड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। हालांकि कुछ रियासतों में स्थिति आसानी से नहीं सुलझी और वहाँ राजनीतिक तथा सुरक्षा संबंधी कठिनाइयाँ सामने आईं। कश्मीर और हैदराबाद के मामले विशेष रूप से महत्वपूर्ण रहे। रियासतों के एकीकरण ने भारत को एक मजबूत राजनीतिक आधार दिया और देश को एक साझा प्रशासनिक तथा संवैधानिक व्यवस्था की ओर आगे बढ़ने में मदद की। इस तरह 1947 के बाद भारत का निर्माण केवल अंग्रेजी शासन से मुक्ति पाने तक सीमित नहीं था, बल्कि विभाजन की कठिन परिस्थितियों के बीच राष्ट्रीय एकता और राजनीतिक स्थिरता कायम करने की भी एक बड़ी प्रक्रिया थी।

1947 से 1952 के बीच की इन घटनाओं को एक साथ देखने पर आजाद भारत के सामने मौजूद राजनीतिक चुनौतियों की तस्वीर साफ दिखाई देती है। कश्मीर में राष्ट्रीय एकता के साथ अंतरराष्ट्रीय विवाद जुड़ गया, हैदराबाद में रियासत के विलय का सवाल आंतरिक राजनीतिक संघर्ष से जुड़ा रहा और साम्यवादी आंदोलन ने सामाजिक–आर्थिक असमानता तथा सत्ता के सवाल को सामने रखा। भारतीय सरकार ने इन चुनौतियों से निपटने के लिए बातचीत, प्रशासनिक कदम, सैन्य कार्रवाई और राजनीतिक उपायों का सहारा लिया। दूसरी ओर, साम्यवादी आंदोलन ने भी अपनी शुरुआती उग्र नीति की सीमाओं को समझते हुए 1951 के आसपास अपनी रणनीति बदली और चुनावी तथा संवैधानिक राजनीति में भाग लेने का रास्ता अपनाया। इसलिए कश्मीर, हैदराबाद और साम्यवादी आंदोलन का अध्ययन स्वतंत्रता के बाद भारत में राष्ट्रीय एकता, लोकतंत्र और राजनीतिक व्यवस्था के विकास को समझने का एक महत्वपूर्ण माध्यम है।

**अध्ययन की आवश्यकता एवं महत्त्व :** 1947 से 1952 का समय भारत के लिए बहुत महत्वपूर्ण रहा, क्योंकि इसी दौरान देश को स्वतंत्रता के बाद अपनी राजनीतिक व्यवस्था को मजबूत करने और राष्ट्रीय एकता बनाए रखने की बड़ी चुनौती थी। कश्मीर और हैदराबाद जैसी रियासतों का भारत में विलय आसान नहीं था। कश्मीर में भारत–पाकिस्तान विवाद और सुरक्षा की समस्या सामने आई, जबकि हैदराबाद में निजाम की स्वतंत्र रहने की इच्छा, रजाकारों की गतिविधियां और आंतरिक राजनीतिक संघर्ष महत्वपूर्ण बने। दूसरी ओर, साम्यवादी आंदोलन किसानों और मजदूरों की समस्याओं, जमीन के सवाल और आर्थिक असमानता को लेकर सक्रिय था। इसलिए इन तीनों घटनाओं का अध्ययन यह समझने के लिए जरूरी है कि स्वतंत्रता के बाद भारत ने राजनीतिक एकता और स्थिरता की समस्याओं का सामना किस तरह किया।

कश्मीर, हैदराबाद और साम्यवादी आंदोलन को अलग–अलग घटनाओं के रूप में देखने के बजाय 1947 – 52 की परिस्थितियों से जोड़कर समझना अधिक उपयोगी है। इन घटनाओं से यह समझने में मदद मिलती है कि भारत सरकार ने राष्ट्रीय एकता, आंतरिक सुरक्षा और राजनीतिक स्थिरता के लिए अलग–अलग परिस्थितियों में किस प्रकार कदम उठाए। साथ ही, साम्यवादी आंदोलन की शुरुआती संघर्षपूर्ण नीति से 1951 – 52 में चुनावी और संवैधानिक राजनीति की ओर बढ़ने की प्रक्रिया भारतीय लोकतंत्र के विकास को समझने में महत्वपूर्ण है। इन तीनों घटनाओं के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि स्वतंत्रता के बाद भारत में राष्ट्र–निर्माण केवल रियासतों के विलय तक सीमित नहीं था, बल्कि उसमें लोकतंत्र, राजनीतिक भागीदारी, सामाजिक न्याय और आर्थिक समानता जैसे प्रश्न भी जुड़े हुए थे। इसलिए यह अध्ययन स्वतंत्र भारत के शुरुआती राजनीतिक दौर और राष्ट्र–निर्माण की प्रक्रिया को समझने के लिए उपयोगी है।

**अध्ययन के उद्देश्य :**

1. कश्मीर और हैदराबाद के भारत में विलय की परिस्थितियों का अध्ययन करना तथा इन दोनों रियासतों में उत्पन्न राजनीतिक, सामाजिक और सुरक्षा संबंधी समस्याओं को समझना। साथ ही, इन मामलों में भारतीय सरकार द्वारा अपनाए गए राजनीतिक, प्रशासनिक और सैन्य उपायों का विश्लेषण करना।
2. स्वतंत्रता के बाद भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की नीतियों और गतिविधियों का अध्ययन करना तथा उसके राजनीतिक दृष्टिकोण में आए बदलाव को समझना। इसके अंतर्गत तेलंगाना किसान आंदोलन, किसानों और मजदूरों की समस्याओं तथा सामाजिक–आर्थिक असमानता से जुड़े मुद्दों का भी अध्ययन करना।
3. 1947 से 1952 के बीच राष्ट्रीय एकता, राजनीतिक स्थिरता और आंतरिक सुरक्षा के सामने आई चुनौतियों का अध्ययन करना तथा यह समझना कि कश्मीर, हैदराबाद और साम्यवादी आंदोलन ने स्वतंत्र भारत की शुरुआती राजनीतिक व्यवस्था को किस प्रकार प्रभावित किया।

4. 1951 के बाद साम्यवादी आंदोलन में आए राजनीतिक बदलाव तथा चुनावी और संवैधानिक राजनीति की ओर उसके बढ़ते रुझान का अध्ययन करना और कश्मीर, हैदराबाद तथा साम्यवादी आंदोलन की घटनाओं को एक साथ देखकर स्वतंत्रता के शुरुआती वर्षों में भारतीय राष्ट्र–निर्माण और लोकतांत्रिक व्यवस्था के विकास को समझना।

**शोध प्रश्न :**

1. कश्मीर और हैदराबाद के भारत में विलय की परिस्थितियाँ क्या थीं और इन दोनों रियासतों से जुड़ी राजनीतिक, सामाजिक तथा सुरक्षा संबंधी समस्याओं से भारतीय सरकार ने किस प्रकार निपटा?
2. स्वतंत्रता के बाद भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की नीतियाँ और गतिविधियाँ कैसी रहीं, तथा तेलंगाना किसान आंदोलन और किसानों–मजदूरों से जुड़े मुद्दों ने साम्यवादी राजनीति को किस प्रकार प्रभावित किया?
3. 1947 से 1952 के बीच कश्मीर, हैदराबाद और साम्यवादी आंदोलन ने राष्ट्रीय एकता, राजनीतिक स्थिरता और आंतरिक सुरक्षा को किस प्रकार प्रभावित किया?
4. 1951 के बाद साम्यवादी आंदोलन की रणनीति में क्या बदलाव आया और चुनावी तथा संवैधानिक राजनीति की ओर बढ़ने का स्वतंत्र भारत की लोकतांत्रिक व्यवस्था तथा राष्ट्र–निर्माण पर क्या प्रभाव पड़ा?

**शोध परिकल्पना :**

**शून्य परिकल्पना** :–1947 से 1952 के बीच कश्मीर, हैदराबाद और साम्यवादी आंदोलन से जुड़ी घटनाओं का स्वतंत्र भारत की राष्ट्रीय एकता, राजनीतिक स्थिरता और लोकतांत्रिक व्यवस्था के विकास पर कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ा।

**वैकल्पिक परिकल्पना** :–1947 से 1952 के बीच कश्मीर, हैदराबाद और साम्यवादी आंदोलन से जुड़ी घटनाओं का स्वतंत्र भारत की राष्ट्रीय एकता, राजनीतिक स्थिरता और लोकतांत्रिक व्यवस्था के विकास पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। इन घटनाओं ने भारतीय सरकार की नीतियों, राष्ट्र–निर्माण की प्रक्रिया और साम्यवादी आंदोलन की राजनीतिक रणनीति को प्रभावित किया।

**शोध–पद्धति** : ऐतिहासिक एवं विश्लेषणात्मक शोध–पद्धति का प्रयोग किया गया है। अध्ययन की समय–सीमा 1947 से 1952 तक रखी गई है, क्योंकि यह अवधि स्वतंत्र भारत के शुरुआती राजनीतिक विकास को समझने के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। इस दौरान देश को विभाजन की कठिन परिस्थितियों, रियासतों के एकीकरण, कश्मीर और हैदराबाद जैसे जटिल मामलों तथा साम्यवादी आंदोलन जैसी राजनीतिक चुनौतियों का सामना करना पड़ा। शोध में सबसे पहले इस समय से जुड़ी प्रमुख ऐतिहासिक घटनाओं को क्रम से समझने का प्रयास किया गया है। कश्मीर और हैदराबाद के भारत में विलय की परिस्थितियों, वहाँ की राजनीतिक स्थिति और भारतीय सरकार द्वारा उठाए गए कदमों का अध्ययन किया गया है। इसके साथ स्वतंत्रता के बाद भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की गतिविधियों, तेलंगाना किसान आंदोलन तथा साम्यवादी राजनीति में आए बदलाव को भी अध्ययन का हिस्सा बनाया गया है। शोध में घटनाओं को केवल क्रम से प्रस्तुत करने के बजाय उनके कारणों और प्रभावों को समझने पर विशेष ध्यान दिया गया है, ताकि यह पता लगाया जा सके कि इन घटनाओं ने स्वतंत्र भारत की राष्ट्रीय एकता और राजनीतिक व्यवस्था को किस प्रकार प्रभावित किया।

प्राथमिक और द्वितीयक दोनों प्रकार के स्रोतों का उपयोग किया गया है। प्राथमिक स्रोतों में उस समय के सरकारी दस्तावेज, संवैधानिक प्रावधान, प्रशासनिक अभिलेख, नेताओं के भाषण, पत्र, संसदीय बहसें तथा उपलब्ध समकालीन सामग्री को आधार बनाया गया है। द्वितीयक स्रोतों में इतिहास और राजनीति से संबंधित पुस्तकों, शोध–पत्रों, पत्रिकाओं तथा अन्य विद्वानों द्वारा किए गए अध्ययनों का सहारा लिया गया है। उपलब्ध सामग्री को अलग–अलग स्रोतों से मिलाकर देखने का प्रयास किया गया है, ताकि घटनाओं की सही स्थिति को समझा जा सके। शोध में कश्मीर, हैदराबाद और साम्यवादी आंदोलन को अलग–अलग घटनाओं के रूप में देखने के बजाय उनके बीच मौजूद संबंधों को भी समझने की कोशिश की गई है। इसके लिए वर्णनात्मक, तुलनात्मक और विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण अपनाया गया है। कश्मीर और हैदराबाद के मामलों की तुलना करके यह समझने का प्रयास किया गया है कि अलग–अलग परिस्थितियों में भारत सरकार ने किस प्रकार की नीति अपनाई। इसी तरह साम्यवादी आंदोलन की शुरुआती उग्र नीति और 1951 के बाद चुनावी तथा संवैधानिक राजनीति की ओर उसके बदलाव का भी विश्लेषण किया गया है। इस पूरी प्रक्रिया के माध्यम से 1947 से 1952 के बीच राष्ट्रीय एकता, राजनीतिक स्थिरता, आंतरिक सुरक्षा और लोकतांत्रिक व्यवस्था के विकास को ऐतिहासिक संदर्भ में समझने का प्रयास किया गया है।

**साहित्य की समीक्षा** : कश्मीर और हैदराबाद के भारत में विलय को समझने के लिए कई इतिहासकारों ने महत्वपूर्ण अध्ययन किए हैं। वी. पी. मेनन की पुस्तक 'भारतीय रियासतों के एकीकरण की कहानी' में स्वतंत्रता के बाद भारतीय रियासतों के एकीकरण की प्रक्रिया और उस समय की राजनीतिक परिस्थितियों का विस्तार से वर्णन मिलता है। इसी प्रकार एच. वी. हॉडसन की पुस्तक 'महान विभाजन रू ब्रिटेन–भारत–पाकिस्तान' में भारत के विभाजन और उसके बाद भारत तथा पाकिस्तान के बीच पैदा हुई समस्याओं को समझने में सहायता मिलती है। कश्मीर के संदर्भ में अलस्टेयर लैम्ब की पुस्तक 'कश्मीर रू एक विवादित विरासत, 1846दृ1990' में कश्मीर के इतिहास, भारत में उसके विलय और भारत–पाकिस्तान विवाद से जुड़े विभिन्न पहलुओं पर चर्चा की गई है। जोसेफ कोरबेल की पुस्तक 'कश्मीर में खतरा' भी कश्मीर समस्या के शुरुआती दौर को समझने के लिए उपयोगी है। हैदराबाद के विषय में सैयद हाशिम रजा की पुस्तक 'हैदराबाद रू एक राज्य के निर्माण का अध्ययन' तथा अन्य ऐतिहासिक अध्ययनों से निजाम की राजनीतिक स्थिति, हैदराबाद के भारत में विलय और वहाँ की आंतरिक परिस्थितियों को समझने में सहायता मिलती है। इन अध्ययनों से पता चलता है कि कश्मीर और हैदराबाद का प्रश्न केवल रियासतों के भारत में विलय तक सीमित नहीं था, बल्कि इसके साथ राष्ट्रीय एकता, राजनीतिक स्थिरता, सुरक्षा और

स्थानीय राजनीति जैसे कई विषय जुड़े हुए थे। दोनों रियासतों की परिस्थितियाँ अलग—अलग थीं, फिर भी दोनों मामलों ने नए भारतीय राज्य के सामने महत्वपूर्ण राजनीतिक चुनौतियाँ रखीं।

स्वतंत्रता के बाद साम्यवादी आंदोलन को समझने के लिए भी कई महत्वपूर्ण पुस्तकें और अध्ययन उपलब्ध हैं। ई. एम. एस. नंबूदिरिपाद की पुस्तक 'केरल में कम्युनिस्ट पार्टी रू संघर्ष और विकास के छह दशक' तथा उनके अन्य लेखन से भारतीय साम्यवादी आंदोलन के विकास और उसकी राजनीतिक सोच को समझने में सहायता मिलती है। बी. टी. रणदिवे और अन्य साम्यवादी नेताओं के लेखन से स्वतंत्रता के बाद कम्युनिस्ट पार्टी की शुरुआती राजनीतिक रणनीति और उसके वैचारिक संघर्ष को समझने में मदद मिलती है। सुमित सरकार की पुस्तक 'आधुनिक भारत : 1885 —1947' और बिपिन चंद्र तथा अन्य लेखकों की पुस्तक 'स्वतंत्रता के बाद भारत' में स्वतंत्रता के बाद की राजनीतिक परिस्थितियों और विभिन्न आंदोलनों की पृष्ठभूमि को समझने के लिए उपयोगी सामग्री मिलती है। तेलंगाना किसान आंदोलन से संबंधित अध्ययनों में किसानों की समस्याओं, जमींदारी व्यवस्था और ग्रामीण असमानता पर ध्यान दिया गया है। उपलब्ध साहित्य में कश्मीर, हैदराबाद और साम्यवादी आंदोलन पर अलग—अलग काफी अध्ययन हुए हैं, लेकिन इन तीनों विषयों को 1947 से 1952 की एक ही समय—सीमा में रखकर राष्ट्रीय एकता, राजनीतिक स्थिरता और लोकतांत्रिक विकास के संदर्भ में एक साथ देखने वाले अध्ययन अपेक्षाकृत कम दिखाई देते हैं। इसी कमी को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत शोध में इन तीनों विषयों को आपस में जोड़कर उनके राजनीतिक और ऐतिहासिक प्रभाव को समझने का प्रयास किया गया है।

**शोध—अंतर** : कश्मीर, हैदराबाद और साम्यवादी आंदोलन पर अलग—अलग काफी चर्चा मिलती है। कश्मीर से जुड़े शोधों में भारत में विलय और भारत—पाकिस्तान विवाद को प्रमुखता दी गई है, जबकि हैदराबाद के अध्ययनों में निजाम, रजाकारों और तेलंगाना की परिस्थितियों पर अधिक ध्यान दिया गया है। इसी तरह साम्यवादी आंदोलन पर हुए अध्ययनों में किसान आंदोलन, तेलंगाना संघर्ष और पार्टी की राजनीतिक रणनीति को अलग—अलग समझाया गया है। लेकिन 1947 से 1952 की अवधि में इन तीनों विषयों को एक साथ रखकर राष्ट्रीय एकता, राजनीतिक स्थिरता और लोकतांत्रिक विकास के संदर्भ में देखने वाले अध्ययन कम हैं।

**रियासतों के एकीकरण की चुनौती** : 1947 में जब भारत आजाद हुआ, तब देश के सामने केवल अंग्रेजी शासन से बाहर निकलने की चुनौती नहीं थी, बल्कि अलग—अलग रियासतों को एक साथ जोड़ना भी बहुत जरूरी था। उस समय भारत में लगभग 565 रियासतें थीं। इन रियासतों के शासकों को यह अधिकार दिया गया था कि वे भारत या पाकिस्तान में शामिल हो सकते हैं। इसके लिए विलय—पत्र एक महत्वपूर्ण माध्यम बना। इस पत्र के द्वारा रियासत का शासक भारत सरकार को रक्षा, विदेश नीति और संचार जैसे विषयों पर अधिकार देता था। इसके बाद धीरे—धीरे रियासतों को भारतीय संघ का हिस्सा बनाने की प्रक्रिया आगे बढ़ी। अधिकांश रियासतों ने भारत के साथ जुड़ने का फैसला कर लिया, लेकिन कुछ रियासतों ने अलग रास्ता अपनाने की कोशिश की। कश्मीर, हैदराबाद और जूनागढ़ जैसे मामलों में परिस्थितियाँ अधिक जटिल थीं। इसलिए रियासतों का एकीकरण केवल कागजी प्रक्रिया नहीं था, बल्कि इसके पीछे राजनीतिक समझ, बातचीत और कई जगहों पर कठिन फैसलों की जरूरत पड़ी। भारतीय संघ को मजबूत बनाने के लिए यह काम बहुत जरूरी था, क्योंकि अलग—अलग रियासतें यदि स्वतंत्र रहने लगतीं तो देश की राजनीतिक एकता कमजोर हो सकती थी।

रियासतों को भारत के साथ जोड़ने में सरदार वल्लभभाई पटेल और वी. पी. मेनन की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण रही। सरदार पटेल ने रियासतों के शासकों से बातचीत करके उन्हें भारत के साथ आने के लिए समझाने का प्रयास किया। उनकी नीति में जहाँ जरूरत थी वहाँ समझाने और विश्वास दिलाने पर जोर दिया गया, लेकिन कठिन परिस्थितियों में कड़ा रुख अपनाने से भी वे पीछे नहीं हटे। वी. पी. मेनन ने प्रशासनिक और व्यावहारिक स्तर पर रियासतों के एकीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने में मदद की। दोनों ने मिलकर ऐसा वातावरण बनाने की कोशिश की जिसमें अधिक से अधिक रियासतें बिना बड़े संघर्ष के भारतीय संघ में शामिल हो जाएँ। कई शासकों को उनकी निजी संपत्ति, सम्मान और कुछ विशेष सुविधाओं के संबंध में आश्वासन भी दिया गया। इस नीति का काफी असर हुआ और बड़ी संख्या में रियासतें भारत में शामिल हो गईं। इस पूरी प्रक्रिया से यह बात सामने आती है कि स्वतंत्रता के शुरुआती समय में राष्ट्रीय एकता बनाने के लिए राजनीतिक समझदारी और मजबूत नेतृत्व दोनों की जरूरत थी।

जूनागढ़ का मामला भी रियासतों के एकीकरण की चुनौती का महत्वपूर्ण उदाहरण था। जूनागढ़ में अधिकांश आबादी हिंदू थी, जबकि वहाँ का शासक मुस्लिम था। जूनागढ़ की भौगोलिक स्थिति भारत के बीचों—बीच थी और उसका पाकिस्तान से सीधा भौगोलिक संपर्क नहीं था। इसके बावजूद जूनागढ़ के नवाब ने पाकिस्तान के साथ जाने का फैसला किया। इस फैसले से स्थानीय लोगों और भारत सरकार के बीच चिंता बढ़ी। वहाँ भारत के पक्ष में आंदोलन शुरू हुआ और स्थिति धीरे—धीरे तनावपूर्ण होती गई। भारत सरकार ने बातचीत और राजनीतिक प्रयासों के माध्यम से समस्या को सुलझाने का प्रयास किया। अंत में जूनागढ़ में जनमत की प्रक्रिया हुई और जनता ने भारत के साथ रहने के पक्ष में अपना निर्णय दिया। इसके बाद जूनागढ़ भारतीय संघ का हिस्सा बन गया। जूनागढ़ की घटना से यह समझने में मदद मिलती है कि रियासतों के विलय में केवल शासक का फैसला ही पर्याप्त नहीं था, बल्कि जनता की इच्छा, भौगोलिक स्थिति और देश की व्यापक राजनीतिक परिस्थितियाँ भी महत्वपूर्ण थीं।

रियासतों के भारत में शामिल होने के बाद अगली बड़ी चुनौती उन्हें लोकतांत्रिक व्यवस्था से जोड़ना था। स्वतंत्रता से पहले अधिकांश रियासतों में शासन राजा या नवाब के हाथ में था और आम जनता की राजनीतिक भागीदारी बहुत सीमित थी। भारत में शामिल होने के बाद इन क्षेत्रों में धीरे—धीरे लोकतांत्रिक संस्थाओं और जनप्रतिनिधित्व की व्यवस्था लागू करने

की प्रक्रिया शुरू हुई। रियासतों को बड़े प्रशासनिक क्षेत्रों में मिलाया गया और आगे चलकर राज्यों के पुनर्गठन की प्रक्रिया भी सामने आई। जनता को मतदान, प्रतिनिधि चुनने और शासन में भाग लेने का अधिकार मिला। इस बदलाव का उद्देश्य केवल रियासतों को भारत के नक्शे में जोड़ना नहीं था, बल्कि वहाँ के लोगों को भी भारतीय लोकतंत्र का हिस्सा बनाना था। इस तरह रियासतों का एकीकरण राजनीतिक एकता के साथ–साथ लोकतांत्रिक व्यवस्था के विस्तार की प्रक्रिया भी बना। 1947 से 1952 के बीच यह परिवर्तन स्वतंत्र भारत की नींव मजबूत करने में महत्वपूर्ण साबित हुआ।

**कश्मीर प्रश्न और भारतीय एकीकरण** : 1947 में भारत की स्वतंत्रता के समय कश्मीर एक महत्वपूर्ण रियासत थी। इसके शासक महाराजा हरि सिंह थे, जबकि राज्य की बड़ी आबादी मुस्लिम थी। महाराजा हरि सिंह शुरू में भारत या पाकिस्तान में तुरंत शामिल होने के पक्ष में नहीं थे और वे कश्मीर को अलग स्थिति में रखना चाहते थे। दूसरी ओर, राज्य के भीतर राजनीतिक जागरूकता बढ़ रही थी और शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व में नेशनल कॉन्फ्रेंस लोगों के राजनीतिक अधिकारों और जिम्मेदार सरकार की मांग कर रही थी। इस समय कश्मीर की स्थिति केवल राजा के निर्णय से तय होने वाली नहीं थी, बल्कि इसमें जनता की इच्छा, भारत–पाकिस्तान के बीच बढ़ता तनाव और राज्य की भौगोलिक स्थिति भी महत्वपूर्ण थी। कश्मीर का भारत और पाकिस्तान दोनों से संपर्क था और दोनों देश इस क्षेत्र को अपने लिए महत्वपूर्ण मानते थे। इसलिए स्वतंत्रता के बाद कश्मीर का प्रश्न धीरे–धीरे एक गंभीर राजनीतिक समस्या बन गया।

महाराजा हरि सिंह की स्थिति काफी कठिन थी। वे पाकिस्तान के साथ जाने में भी पूरी तरह सहमत नहीं थे और भारत में विलय को लेकर भी तत्काल निर्णय नहीं लेना चाहते थे। इसी बीच पाकिस्तान की ओर से कश्मीर पर दबाव बढ़ने लगा। अक्टूबर 1947 में कबायली लड़ाकों ने कश्मीर पर हमला कर दिया और तेजी से राज्य के अंदर आगे बढ़ने लगे। इस हमले से कश्मीर की सुरक्षा व्यवस्था पर गंभीर संकट पैदा हो गया। महाराजा ने भारत से सैन्य सहायता मांगी। भारत सरकार ने सहायता देने से पहले कश्मीर के भारत में विलय को आवश्यक माना। इसके बाद महाराजा हरि सिंह ने भारत के साथ विलय–पत्र पर हस्ताक्षर किए। विलय के बाद भारतीय सेना को कश्मीर भेजा गया और कबायली आक्रमण को रोकने की कार्रवाई शुरू हुई। इस घटना ने कश्मीर के भारत में शामिल होने की प्रक्रिया को निर्णायक रूप दिया। इस प्रकार कश्मीर का भारत में विलय केवल राजनीतिक निर्णय नहीं था, बल्कि उस समय पैदा हुए सुरक्षा संकट से भी गहराई से जुड़ा हुआ था।

कश्मीर के भारत में विलय के बाद भारत और पाकिस्तान के बीच संघर्ष बढ़ गया। दोनों देशों के बीच कश्मीर को लेकर सैन्य टकराव हुआ और यह समस्या अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी पहुंची। भारत ने इस मामले को संयुक्त राष्ट्र में उठाया। संयुक्त राष्ट्र के स्तर पर युद्ध रोकने और आगे की स्थिति को शांतिपूर्ण तरीके से सुलझाने के प्रयास किए गए। इस पूरे घटनाक्रम ने कश्मीर को भारत की राजनीति, सुरक्षा और विदेश नीति का महत्वपूर्ण विषय बना दिया। कश्मीर में शेख अब्दुल्ला और नेशनल कॉन्फ्रेंस की भूमिका भी महत्वपूर्ण रही, क्योंकि वे राज्य में लोकतांत्रिक व्यवस्था और जनता की राजनीतिक भागीदारी की बात कर रहे थे। इस समय भारत सरकार के सामने एक तरफ कश्मीर की सुरक्षा और भारत की क्षेत्रीय एकता का प्रश्न था, तो दूसरी तरफ वहां की जनता की राजनीतिक आकांक्षाओं को समझने की चुनौती भी थी। इसलिए कश्मीर का प्रश्न केवल भारत–पाकिस्तान विवाद तक सीमित नहीं रहा, बल्कि यह भारतीय संघ, लोकतंत्र और राष्ट्रीय एकता से भी जुड़ गया।

1947 से 1952 के बीच कश्मीर का प्रश्न भारतीय एकीकरण की प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बन गया। इस अवधि में भारत सरकार को यह तय करना था कि कश्मीर की सुरक्षा कैसे सुनिश्चित की जाए और उसे भारतीय संघ के साथ किस प्रकार जोड़ा जाए। कश्मीर की स्थिति ने यह दिखाया कि स्वतंत्रता के बाद देश को केवल रियासतों का राजनीतिक विलय ही नहीं करना था, बल्कि अलग–अलग क्षेत्रों की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों को भी ध्यान में रखना था। कश्मीर के मामले में जनता की राजनीतिक भूमिका, सुरक्षा की समस्या और भारत–पाकिस्तान के संबंध एक–दूसरे से जुड़े हुए थे। इसका प्रभाव आगे चलकर भारत की सुरक्षा नीति, विदेश नीति और आंतरिक राजनीति पर भी पड़ा।

**हैदराबाद का भारत में विलय** : 1947 में भारत की स्वतंत्रता के समय हैदराबाद देश की सबसे बड़ी और महत्वपूर्ण रियासतों में से एक था। यहां निजाम का शासन था और निजाम उस समय भारत या पाकिस्तान में शामिल होने के बजाय हैदराबाद को अलग राज्य के रूप में बनाए रखना चाहते थे। उनका मानना था कि हैदराबाद अपनी अलग पहचान और स्वतंत्र राजनीतिक स्थिति बनाए रख सकता है। लेकिन भौगोलिक स्थिति को देखते हुए यह नीति व्यावहारिक नहीं थी, क्योंकि हैदराबाद चारों ओर से भारतीय क्षेत्र से घिरा हुआ था। दूसरी ओर, राज्य की आम जनता की राजनीतिक इच्छाएं भी बदल रही थीं। हैदराबाद में लोकतांत्रिक अधिकारों और जिम्मेदार शासन की मांग धीरे–धीरे मजबूत हो रही थी। निजाम की सरकार इस तरह की मांगों को लेकर बहुत सावधान थी और वह अपनी पुरानी व्यवस्था को बनाए रखना चाहती थी। इस कारण हैदराबाद का प्रश्न केवल एक शासक के निर्णय का विषय नहीं रहा, बल्कि यह भारत की राष्ट्रीय एकता और लोकतांत्रिक व्यवस्था से भी जुड़ गया। भारत सरकार के लिए यह जरूरी था कि देश के बीचों–बीच स्थित इतनी बड़ी रियासत अलग राजनीतिक इकाई के रूप में न रहे।

हैदराबाद की आंतरिक स्थिति भी काफी जटिल थी। राज्य में अलग–अलग राजनीतिक समूह सक्रिय थे और जनता के बीच शासन व्यवस्था को लेकर असंतोष बढ़ रहा था। हैदराबाद स्टेट कांग्रेस लोकतांत्रिक अधिकारों और जनता की भागीदारी की मांग कर रही थी। दूसरी तरफ निजाम के समर्थक पुराने शासन को बनाए रखना चाहते थे। इसी माहौल में रजाकारों का प्रभाव बढ़ा। रजाकार एक सशस्त्र संगठन था, जो निजाम के शासन का समर्थन करता था और हैदराबाद को

भारत में मिलाने के विरोध में सक्रिय था। उनके कारण राज्य में राजनीतिक तनाव और हिंसा की स्थिति बढ़ने लगी। आम लोगों के बीच भय और असुरक्षा की भावना भी पैदा हुई। इसी समय तेलंगाना क्षेत्र में किसान आंदोलन ने भी जोर पकड़ा। किसानों की मुख्य शिकायतें जमीन, लगान, बेगार और स्थानीय जमींदारों के अत्याचार से जुड़ी थीं। साम्यवादी कार्यकर्ताओं ने इस आंदोलन को संगठित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस कारण हैदराबाद का सवाल केवल भारत में विलय का राजनीतिक प्रश्न नहीं रहा, बल्कि उसमें किसान संघर्ष, सामाजिक असमानता और लोकतांत्रिक अधिकारों की मांग भी शामिल हो गई।

भारत सरकार ने शुरू में बातचीत के माध्यम से हैदराबाद की समस्या को हल करने की कोशिश की। भारत और निजाम के बीच समझौते और बातचीत के प्रयास हुए, लेकिन दोनों पक्षों के बीच स्थायी समाधान नहीं निकल सका। निजाम स्वतंत्र रहने की अपनी नीति पर कायम रहे और राज्य में रजाकारों की गतिविधियां भी बढ़ती गईं। स्थिति बिगड़ने पर भारत सरकार ने इसे देश की सुरक्षा और राष्ट्रीय एकता से जुड़ा गंभीर मामला माना। सितंबर 1948 में भारतीय सेना ने हैदराबाद में सैन्य कार्रवाई की, जिसके बाद निजाम की सरकार ने आत्मसमर्पण कर दिया और हैदराबाद भारतीय संघ में शामिल हो गया। इस घटना ने यह स्पष्ट किया कि स्वतंत्र भारत की सरकार रियासतों के एकीकरण के मामले में केवल बातचीत तक सीमित नहीं रहने वाली थी। जहां राजनीतिक समझ और बातचीत से समाधान संभव था, वहां उसका उपयोग किया गया, लेकिन जब स्थिति देश की एकता और सुरक्षा के लिए गंभीर चुनौती बनने लगी, तब सरकार ने कठोर कदम भी उठाया। हैदराबाद के विलय के बाद वहां की राजनीतिक व्यवस्था में धीरे–धीरे बदलाव शुरू हुआ और लोकतांत्रिक संस्थाओं के विकास का रास्ता खुला।

हैदराबाद का भारत में विलय भारतीय एकीकरण की प्रक्रिया में बहुत महत्वपूर्ण घटना थी। इससे भारत के बीच स्थित एक बड़ी रियासत का अलग रहने का प्रश्न समाप्त हुआ और देश की क्षेत्रीय एकता को मजबूती मिली। इस घटना का प्रभाव केवल राजनीतिक स्तर पर नहीं था, बल्कि इससे हैदराबाद की जनता को आगे चलकर लोकतांत्रिक व्यवस्था में भाग लेने का अवसर भी मिला। तेलंगाना के किसान आंदोलन ने यह भी दिखाया कि स्वतंत्रता के बाद केवल राजनीतिक आजादी पर्याप्त नहीं थी, बल्कि जमीन, सामाजिक बराबरी और आर्थिक न्याय जैसे सवाल भी महत्वपूर्ण थे। साम्यवादी आंदोलन ने इन समस्याओं को राजनीतिक रूप से उठाया और किसानों के बीच अपनी पकड़ बनाई। इस प्रकार हैदराबाद का विलय राष्ट्रीय एकीकरण, लोकतांत्रिक परिवर्तन और सामाजिक संघर्षकृतीनों को समझने के लिए महत्वपूर्ण है। 1947 से 1952 के शुरुआती वर्षों में इस घटना ने भारतीय राज्य की एकता को मजबूत करने और अलग–अलग राजनीतिक तथा सामाजिक समूहों को नए लोकतांत्रिक ढांचे से जोड़ने की प्रक्रिया को आगे बढ़ाया।

**स्वतंत्रता के बाद साम्यवादी आंदोलन** : 1947 में भारत की स्वतंत्रता के बाद भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के सामने यह सवाल था कि नई सरकार और नई राजनीतिक व्यवस्था को किस रूप में देखा जाए। कम्युनिस्ट पार्टी का एक हिस्सा मानता था कि अंग्रेजों के चले जाने से राजनीतिक सत्ता में बदलाव जरूर आया है, लेकिन किसानों, मजदूरों और गरीब लोगों की आर्थिक स्थिति में तुरंत कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ। इसी सोच के कारण पार्टी के भीतर स्वतंत्रता को लेकर आलोचनात्मक दृष्टिकोण सामने आया। उस समय कुछ कम्युनिस्ट नेताओं और कार्यकर्ताओं ने यह तर्क दिया कि सत्ता का हस्तांतरण हुआ है, लेकिन समाज में आर्थिक असमानता और शोषण की पुरानी व्यवस्था काफी हद तक बनी हुई है। इसी राजनीतिक सोच से "ये आज़ादी झूठी है" जैसी धारणा जुड़ी, जिसका अर्थ यह था कि केवल राजनीतिक स्वतंत्रता को पूर्ण स्वतंत्रता नहीं माना जा सकता। कम्युनिस्ट पार्टी किसानों और मजदूरों की समस्याओं को केंद्र में रखकर व्यापक सामाजिक और आर्थिक बदलाव चाहती थी। इसलिए स्वतंत्रता के शुरुआती वर्षों में उसका संबंध कांग्रेस सरकार से सहयोग के बजाय विरोध और संघर्ष की दिशा में अधिक दिखाई दिया। इस दौर में पार्टी के भीतर यह बहस भी चल रही थी कि भारत में बदलाव का रास्ता संसदीय राजनीति से निकलेगा या फिर व्यापक जनसंघर्ष और क्रांतिकारी आंदोलन के माध्यम से।

1948 में बी.टी. रणदिवे के नेतृत्व में कम्युनिस्ट पार्टी ने अधिक आक्रामक और क्रांतिकारी राजनीतिक रणनीति अपनाई। पार्टी के नेतृत्व में यह विचार मजबूत हुआ कि मजदूरों और किसानों के आंदोलनों को संगठित करके सरकार के खिलाफ व्यापक संघर्ष खड़ा किया जा सकता है। इसी दौर में हड़तालों, किसान आंदोलनों और अन्य जनसंघर्षों को राजनीतिक बदलाव का माध्यम बनाने पर जोर दिया गया। तेलंगाना क्षेत्र का किसान संघर्ष इस रणनीति का सबसे महत्वपूर्ण उदाहरण बना। वहां किसानों का संघर्ष जमीन, लगान, बेगार और जमींदारों के दबाव जैसी समस्याओं से जुड़ा था। साम्यवादी कार्यकर्ताओं ने किसानों को संगठित किया और आंदोलन को मजबूत करने का प्रयास किया। इसी तरह पश्चिम बंगाल में तेभागा आंदोलन ने किसानों के अधिकारों का सवाल उठाया। बटाईदार किसानों की मांग थी कि खेती की उपज में उनका हिस्सा बढ़ाया जाए और उन्हें अधिक सुरक्षित अधिकार मिलें। इन आंदोलनों ने यह दिखाया कि स्वतंत्रता के बाद भी ग्रामीण समाज में जमीन और आर्थिक असमानता बड़े मुद्दे बने हुए थे। साम्यवादी आंदोलन ने इन समस्याओं को राजनीतिक रूप दिया और किसानों तथा मजदूरों के बीच अपनी पकड़ बढ़ाने की कोशिश की।

कम्युनिस्ट पार्टी की इस संघर्षपूर्ण नीति को सरकार ने गंभीरता से लिया। स्वतंत्रता के बाद केंद्र और विभिन्न राज्य सरकारों को आशंका थी कि सशस्त्र संघर्ष और व्यापक हड़तालें नई लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए चुनौती पैदा कर सकती हैं। तेलंगाना जैसे क्षेत्रों में आंदोलन को नियंत्रित करने के लिए सरकारी बल का इस्तेमाल किया गया। कई स्थानों पर कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं की गिरफ्तारियां हुईं और पार्टी की गतिविधियों पर प्रतिबंध तथा निगरानी बढ़ाई गई। सरकार का तर्क था कि देश में कानून–व्यवस्था बनाए रखना और नई राजनीतिक व्यवस्था को स्थिर करना जरूरी है, जबकि कम्युनिस्टों का

कहना था कि किसान और मजदूर अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर रहे हैं। इस टकराव ने स्वतंत्रता के शुरुआती वर्षों की राजनीति को काफी प्रभावित किया। इससे यह भी स्पष्ट हुआ कि भारत में लोकतंत्र की स्थापना के साथ—साथ सामाजिक और आर्थिक असमानता का प्रश्न भी गंभीर बना हुआ था। सरकार और कम्युनिस्ट आंदोलन के बीच संघर्ष केवल राजनीतिक सत्ता का विवाद नहीं था, बल्कि इसमें जमीन, मजदूर अधिकार, सामाजिक बराबरी और आर्थिक न्याय जैसे मुद्दे भी जुड़े हुए थे।

1948 से 1950 के बीच अपनाई गई कठोर क्रांतिकारी रणनीति से कम्युनिस्ट पार्टी को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। सरकार की कार्रवाई, संगठन पर दबाव और व्यापक राजनीतिक परिस्थितियों ने पार्टी को अपनी नीति पर दोबारा विचार करने के लिए मजबूर किया। धीरे—धीरे पार्टी के भीतर यह समझ मजबूत हुई कि भारत की परिस्थितियों में केवल सशस्त्र संघर्ष के रास्ते से व्यापक राजनीतिक परिवर्तन हासिल करना आसान नहीं है। इसके बाद पार्टी की रणनीति में बदलाव की शुरुआत हुई और 1951 तक संसदीय तथा संवैधानिक राजनीति में भाग लेने की दिशा अधिक स्पष्ट हो गई। 1951—1952 के आम चुनावों में कम्युनिस्ट पार्टी की भागीदारी इसी बदलाव का महत्वपूर्ण संकेत थी। इस तरह स्वतंत्रता के बाद साम्यवादी आंदोलन का शुरुआती दौर विरोध, किसान संघर्ष और क्रांतिकारी राजनीति से शुरू होकर धीरे—धीरे लोकतांत्रिक और चुनावी राजनीति की ओर बढ़ा। इस पूरे दौर में तेलंगाना और तेभागा जैसे किसान आंदोलनों ने भारतीय राजनीति में किसानों और मजदूरों की समस्याओं को प्रमुखता दिलाई और सरकार को भी ग्रामीण असमानता तथा सामाजिक—आर्थिक समस्याओं पर ध्यान देने के लिए मजबूर किया।

**साम्यवादी आंदोलन में वैचारिक संघर्ष और परिवर्तन** : स्वतंत्रता के बाद भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के सामने सबसे बड़ी समस्या यह थी कि भारत की बदलती राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों को किस तरह समझा जाए। पार्टी के भीतर इस बात को लेकर मतभेद बढ़ने लगे कि भारत में क्रांतिकारी परिवर्तन के लिए किस रास्ते को अपनाया जाए। एक तरफ रूस की क्रांति और सोवियत संघ के अनुभव से प्रभावित नेता थे, जो मजदूर वर्ग के नेतृत्व और संगठित क्रांतिकारी संघर्ष को अधिक महत्व देते थे। दूसरी तरफ चीन की क्रांति के अनुभव से प्रभावित विचार सामने आ रहे थे, जिसमें किसानों को राजनीतिक बदलाव की महत्वपूर्ण शक्ति माना गया था। भारत की स्थिति इन दोनों देशों से अलग थी। यहां लोकतांत्रिक संस्थाएं बन रही थीं, चुनाव होने वाले थे और बड़ी संख्या में लोग राजनीतिक प्रक्रिया से जुड़ रहे थे। इसके साथ ही किसानों, मजदूरों और गरीब लोगों की आर्थिक समस्याएं भी गंभीर थीं। इसलिए भारतीय कम्युनिस्ट नेताओं के लिए यह तय करना आसान नहीं था कि विदेशी क्रांतिकारी अनुभवों में से किसे भारत की परिस्थितियों के अनुसार अपनाया जाए। इस वैचारिक बहस ने पार्टी की नीतियों और उसके भविष्य की राजनीतिक दिशा को प्रभावित किया।

1948 के आसपास पार्टी ने अधिक संघर्षपूर्ण और क्रांतिकारी नीति अपनाई। बी.टी. रणदिवे के नेतृत्व में यह माना गया कि मजदूरों और किसानों के आंदोलनों को मजबूत करके मौजूदा सरकार के खिलाफ व्यापक संघर्ष खड़ा किया जा सकता है। तेलंगाना का किसान संघर्ष इस नीति के लिए महत्वपूर्ण उदाहरण बना। वहां जमीन, जमींदारी शोषण, बेगार और किसानों की दूसरी समस्याओं को लेकर संघर्ष चल रहा था। साम्यवादी कार्यकर्ताओं ने किसानों को संगठित किया और आंदोलन को राजनीतिक रूप देने की कोशिश की। पश्चिम बंगाल के तेभागा आंदोलन ने भी किसानों की समस्याओं को सामने लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। लेकिन इन आंदोलनों और सरकार की प्रतिक्रिया से पार्टी के सामने कई व्यावहारिक कठिनाइयां आईं। सरकार ने सशस्त्र और उग्र गतिविधियों को रोकने के लिए कठोर कदम उठाए, जिससे पार्टी के संगठन और कार्यकर्ताओं पर दबाव बढ़ा। इस स्थिति ने कम्युनिस्ट नेतृत्व को यह सोचने के लिए मजबूर किया कि क्या केवल संघर्ष और क्रांतिकारी कार्रवाई के रास्ते से भारत में राजनीतिक बदलाव लाया जा सकता है। भारतीय परिस्थितियों का सही मूल्यांकन न कर पाने की समस्या भी पार्टी के अंदर चर्चा का बड़ा विषय बन गई।

इसी पृष्ठभूमि में कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर अपनी रणनीति को बदलने की जरूरत महसूस हुई। पार्टी के नेताओं ने धीरे—धीरे यह समझना शुरू किया कि भारत में लोकतांत्रिक व्यवस्था को पूरी तरह नजरअंदाज करके केवल सशस्त्र संघर्ष के माध्यम से आगे बढ़ना व्यावहारिक नहीं होगा। भारत में जनता को मतदान का अधिकार मिलने वाला था और राजनीतिक दलों के लिए चुनावी रास्ता खुल रहा था। इसलिए कम्युनिस्ट पार्टी ने अपनी रणनीति पर पुनर्विचार किया और 1951 में एक नई राजनीतिक दिशा अपनाई। इस नई नीति में भारतीय परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए जन आंदोलनों के साथ—साथ संवैधानिक और संसदीय राजनीति में भाग लेने पर जोर दिया गया। पार्टी ने यह स्वीकार करना शुरू किया कि किसानों और मजदूरों के सवालों को उठाने के लिए लोकतांत्रिक संस्थाओं का भी उपयोग किया जा सकता है। इसका अर्थ यह नहीं था कि पार्टी ने अपने समाजवादी विचारों को छोड़ दिया था, बल्कि उसने उन्हें आगे बढ़ाने के लिए राजनीतिक परिस्थितियों के अनुसार अपना तरीका बदला। इस बदलाव से पार्टी के भीतर चल रहा वैचारिक संघर्ष कुछ हद तक नई दिशा में गया और चुनावी राजनीति को गंभीरता से लेने की शुरुआत हुई।

1951—1952 के आम चुनाव साम्यवादी आंदोलन में आए इस बदलाव को समझने के लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं। कम्युनिस्ट पार्टी ने चुनावों में भाग लेकर यह संकेत दिया कि अब वह लोकतांत्रिक व्यवस्था के भीतर रहकर भी अपने राजनीतिक और सामाजिक विचारों को जनता के सामने रखना चाहती है। चुनावी राजनीति में प्रवेश से पार्टी को किसानों, मजदूरों और दूसरे कमजोर वर्गों के मुद्दों को संसद और विधानसभाओं में उठाने का अवसर मिला। इस बदलाव ने भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन को एक नए राजनीतिक रास्ते पर पहुंचाया। 1948 की अपेक्षाकृत उग्र नीति से 1951 की नई रणनीति तक का सफर यह दिखाता है कि किसी भी राजनीतिक आंदोलन को अपनी परिस्थितियों के अनुसार अपनी रणनीति में

बदलाव करना पड़ता है। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने भी संघर्ष और क्रांतिकारी राजनीति के अनुभवों से सीख लेते हुए संवैधानिक तथा चुनावी राजनीति की ओर कदम बढ़ाया। इससे भारतीय लोकतंत्र में वामपंथी राजनीति के लिए एक स्थायी राजनीतिक स्थान बनने की प्रक्रिया शुरू हुई और किसान–मजदूरों से जुड़े सवाल राष्ट्रीय राजनीतिक बहस का हिस्सा बने।

**तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन :** कश्मीर, हैदराबाद और स्वतंत्रता के बाद के साम्यवादी आंदोलन तीन अलग–अलग परिस्थितियों से जुड़े हुए विषय थे, लेकिन इन तीनों में एक बात समान थी कि इन्होंने नए भारत के सामने गंभीर राजनीतिक चुनौती रखी। कश्मीर में मुख्य समस्या भारत–पाकिस्तान के बीच विवाद और रियासत के भारत में विलय को लेकर थी। हैदराबाद में निजाम अपनी अलग राजनीतिक स्थिति बनाए रखना चाहते थे, जबकि भारत सरकार देश की भौगोलिक और राजनीतिक एकता को मजबूत करना चाहती थी। दूसरी ओर, साम्यवादी आंदोलन का सवाल राज्य के भीतर वर्ग संघर्ष, किसानों और मजदूरों के अधिकार तथा राजनीतिक सत्ता की दिशा से जुड़ा था। कश्मीर में महाराजा हरि सिंह, शेख अब्दुल्ला और जवाहरलाल नेहरू जैसे नेताओं की भूमिका महत्वपूर्ण रही, जबकि हैदराबाद के मामले में निजाम और सरदार पटेल प्रमुख रूप से सामने आए। साम्यवादी आंदोलन में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का नेतृत्व और उसके अलग–अलग नेताओं की रणनीति महत्वपूर्ण रही। तीनों मामलों में सरकार के सामने यह चुनौती थी कि राजनीतिक अस्थिरता को कैसे नियंत्रित किया जाए और नए लोकतांत्रिक भारत की एकता को कैसे मजबूत रखा जाए।

इन तीनों परिस्थितियों के बीच महत्वपूर्ण अंतर भी दिखाई देता है। कश्मीर का मामला मुख्य रूप से रियासत के विलय, भारत–पाकिस्तान संबंध और सुरक्षा से जुड़ा था। हैदराबाद में समस्या एक ऐसे शासक की स्वतंत्र रहने की इच्छा से जुड़ी थी, जिसके राज्य के अंदर राजनीतिक विरोध और सामाजिक संघर्ष भी बढ़ रहा था। साम्यवादी आंदोलन का स्वरूप इन दोनों से अलग था, क्योंकि इसका आधार किसी रियासत का भारत में विलय नहीं, बल्कि सामाजिक और आर्थिक असमानता के खिलाफ राजनीतिक संघर्ष था। तेलंगाना में किसानों का संघर्ष और पश्चिम बंगाल का तेभागा आंदोलन इसके प्रमुख उदाहरण रहे। राज्य की प्रतिक्रिया भी तीनों मामलों में अलग रही। कश्मीर में सैन्य कार्रवाई के साथ कूटनीतिक प्रयास भी हुए और मामला अंतरराष्ट्रीय स्तर तक पहुंचा। हैदराबाद में बातचीत के बाद भारतीय सैन्य कार्रवाई हुई और अंततः रियासत का भारत में विलय हो गया। साम्यवादी आंदोलन के मामले में सरकार ने गिरफ्तारियों, प्रतिबंधों और दमन के माध्यम से आंदोलन को नियंत्रित करने की कोशिश की। बाद में कम्युनिस्ट पार्टी ने अपनी रणनीति बदली और चुनावी राजनीति की ओर बढ़ी।

इन घटनाओं को राष्ट्र–निर्माण के दृष्टिकोण से देखने पर राज्य की भूमिका काफी महत्वपूर्ण दिखाई देती है। स्वतंत्रता के बाद भारत केवल एक नया देश नहीं बना था, बल्कि उसे अलग–अलग रियासतों, क्षेत्रों और राजनीतिक विचारधाराओं को एक साथ जोड़कर एक स्थिर व्यवस्था भी बनानी थी। कश्मीर और हैदराबाद के मामलों में सरकार का प्रमुख जोर राष्ट्रीय एकता और क्षेत्रीय अखंडता बनाए रखने पर था। साम्यवादी आंदोलन के मामले में सरकार के सामने अलग तरह की चुनौती थी, क्योंकि आंदोलन सामाजिक और आर्थिक बदलाव की मांग कर रहा था, लेकिन उसकी शुरुआती रणनीति में सरकार के विरुद्ध संघर्ष और कुछ क्षेत्रों में सशस्त्र गतिविधियां भी शामिल थीं। इसलिए सरकार ने इसे कानून–व्यवस्था और राजनीतिक स्थिरता से जोड़कर देखा। दूसरी ओर, साम्यवादी आंदोलन ने यह सवाल लगातार उठाया कि राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ आर्थिक और सामाजिक बराबरी भी जरूरी है। इस कारण राष्ट्र–निर्माण की प्रक्रिया में केवल सीमा और क्षेत्र का एकीकरण ही नहीं, बल्कि किसानों, मजदूरों और सामान्य जनता को राजनीतिक व्यवस्था से जोड़ना भी महत्वपूर्ण बन गया।

कश्मीर, हैदराबाद और साम्यवादी आंदोलन का भारतीय लोकतंत्र पर प्रभाव अलग–अलग रूप में दिखाई देता है। कश्मीर का प्रश्न आगे लंबे समय तक भारत–पाकिस्तान संबंधों और राष्ट्रीय सुरक्षा से जुड़ा रहा। हैदराबाद के विलय ने भारत के क्षेत्रीय एकीकरण को मजबूत किया और रियासतों को लोकतांत्रिक व्यवस्था में लाने की प्रक्रिया को आगे बढ़ाया। साम्यवादी आंदोलन ने शुरुआत में सरकार के सामने राजनीतिक विद्रोह और अस्थिरता की चुनौती रखी, लेकिन 1951दृ52 तक उसकी रणनीति में महत्वपूर्ण बदलाव आया और उसने संवैधानिक तथा चुनावी राजनीति को अपनाने की दिशा में कदम बढ़ाया। इस तुलना से पता चलता है कि स्वतंत्र भारत में राष्ट्र–निर्माण केवल रियासतों के विलय तक सीमित नहीं था। इसमें राष्ट्रीय एकता, आंतरिक सुरक्षा, सामाजिक न्याय, राजनीतिक भागीदारी और लोकतांत्रिक व्यवस्था को मजबूत करना भी शामिल था। कश्मीर और हैदराबाद ने राज्य की एकता से जुड़े प्रश्न सामने रखे, जबकि साम्यवादी आंदोलन ने सामाजिक–आर्थिक बराबरी और राजनीतिक व्यवस्था के स्वरूप पर बहस को मजबूत किया। इस तरह तीनों घटनाओं ने अलग–अलग रास्तों से भारतीय लोकतंत्र और राष्ट्र–निर्माण की शुरुआती दिशा को प्रभावित किया।

**निष्कर्ष :** 1947 में स्वतंत्रता मिलने के बाद भारत के सामने सबसे बड़ी चुनौती केवल अंग्रेजी शासन से मुक्त होना नहीं थी, बल्कि अलग–अलग रियासतों, राजनीतिक विचारों और सामाजिक परिस्थितियों को एक साथ जोड़कर एक मजबूत राष्ट्र बनाना भी था। कश्मीर, हैदराबाद और साम्यवादी आंदोलन इस चुनौती को समझने के लिए महत्वपूर्ण उदाहरण हैं। हैदराबाद के मामले में निजाम की स्वतंत्र रहने की इच्छा, रजाकारों की गतिविधियां और राज्य के अंदर चल रहे राजनीतिक तथा किसान संघर्ष ने स्थिति को जटिल बना दिया था। अंततः भारतीय सरकार की कार्रवाई के बाद हैदराबाद का भारत में विलय हुआ और राष्ट्रीय एकीकरण को मजबूती मिली। कश्मीर की स्थिति इससे अलग थी। वहां महाराजा हरि सिंह का निर्णय, शेख अब्दुल्ला की राजनीतिक भूमिका, कबायली आक्रमण और भारत–पाकिस्तान के बीच संघर्ष ने कश्मीर को एक गंभीर राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय प्रश्न बना दिया। इस प्रकार कश्मीर का मामला केवल विलय तक सीमित नहीं रहा, बल्कि आगे चलकर

भारत की सुरक्षा और विदेश नीति से भी जुड़ गया।

स्वतंत्रता के बाद साम्यवादी आंदोलन ने राष्ट्र–निर्माण के सामने एक अलग तरह की चुनौती रखी। कम्युनिस्ट पार्टी ने किसानों और मजदूरों की समस्याओं, आर्थिक असमानता और सामाजिक शोषण को प्रमुखता दी। तेलंगाना और तेभागा जैसे आंदोलनों ने ग्रामीण समाज की समस्याओं को राजनीतिक बहस का हिस्सा बनाया। शुरुआती दौर में पार्टी ने अधिक संघर्षपूर्ण और क्रांतिकारी रास्ता अपनाया, लेकिन अनुभवों और बदलती परिस्थितियों के बाद 1951 में उसकी रणनीति में महत्वपूर्ण बदलाव आया। 1951दृ52 के आम चुनावों में भाग लेकर उसने संवैधानिक और चुनावी राजनीति की दिशा में कदम बढ़ाया। इससे यह समझने में मदद मिलती है कि स्वतंत्र भारत का राष्ट्र–निर्माण केवल क्षेत्रीय एकीकरण की प्रक्रिया नहीं था, बल्कि इसमें लोकतंत्र, राजनीतिक भागीदारी, सामाजिक न्याय और आर्थिक समानता के सवाल भी शामिल थे। कश्मीर ने राष्ट्रीय सुरक्षा की चुनौती को, हैदराबाद ने राजनीतिक एकीकरण को और साम्यवादी आंदोलन ने सामाजिक–आर्थिक बदलाव की आवश्यकता को सामने रखा। इन तीनों घटनाओं ने मिलकर स्वतंत्र भारत की शुरुआती राजनीतिक दिशा और लोकतांत्रिक व्यवस्था के विकास को गहराई से प्रभावित किया।

**संदर्भ सूची :**

1. चंद्र, बिपिन, आदि। स्वतंत्रता के बाद भारत। पेंगुइन बुक्स, 2008।
2. गुहा, रामचंद्र। इंडिया आफ्टर गांधीरू द हिस्ट्री ऑफ द वर्ल्ड्स लार्जेस्ट डेमोक्रेसी। पिकाडोर, 2007।
3. मेनन, वी. पी. द स्टोरी ऑफ द इंटीग्रेशन ऑफ द इंडियन स्टेट्स। लॉन्गमैन्स, ग्रीन एंड कंपनी, 1956।
4. कॉपलैंड, इयान। द प्रिंसेस ऑफ इंडिया इन द एंडगेम ऑफ द एम्पायर, 1917 –1947। कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1997।
5. आलम, जाविद। इंडिया एंड कम्युनिज्म :1947 :1950। संबंधित प्रकाशन संस्करण।
6. सरकार, सुमित। मॉडर्न इंडिया, 1885 –1947। मैकमिलन इंडिया, 1983।
7. नंबूदिरिपाद, ई. एम. एस. द इंडियन कम्युनिस्ट मूवमेंटरू ए हिस्ट्री। नेशनल बुक सेंटर, संबंधित संस्करण।
8. लैंब, अलस्टेयर। कश्मीररू ए डिस्प्यूटेड लिगेसी, 1846 –1990। रोकाना, 1991।
9. कोरबेल, जोसेफ। डेंजर इन कश्मीर। प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1954।
10. नरसिम्हा, राव। हैदराबाद एंड द इंडियन यूनियन। संबंधित प्रकाशन संस्करण।

•